ब्रह्मभूतः=ब्रह्मभूत पुरुष; **प्रसन्नात्मा**=पूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त; **न**=न तो; **शोचति**=शोक करता (और); **न**=नहीं; **कांक्षति**=इच्छा करता; **समः**=समभाव से स्थित; **सर्वेषु भूतेषु**=सब प्राणियों में; **मत्**=मेरी; **भक्तिम्**=भक्ति को; **लभते**=प्राप्त होता है; **पराम्**=परम दिव्य।

अनुवाद

ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है। वह न शोक करता है और न इच्छा ही करता है; सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरं शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।।५४।।

तात्पर्य

निर्विशेषवादियों के लिए ब्रह्मभूत अवस्था की प्राप्ति, अर्थात् ब्रह्म से एक हो जाना ही सब कुछ है। परन्तु सविशेषवादी शुद्धभक्त बनने के लिए इससे और आगे बढ़ना होगा; तभी शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि जो शुद्ध भगवद्भक्तियोग से युक्त है, वह पुरुष पहले ही ब्रह्मभूत नामक मुक्तावस्था में स्थित है। ब्रह्मभूत हुए बिना भगवत्सेवा नहीं की जा सकती। ब्रह्म-धारणा में सेवक और सेव्य में भेद नहीं होता। परन्तु इससे ऊपर दिव्य स्तर पर भेद रहता है।

देहात्मबुद्धि के आधीन किया गया कर्म दुःख का कारण है। परन्तु अद्वय जगत् में, जहाँ जीव शुद्ध भक्तियोग के परायण रहता है, उसे कभी कोई दुःख नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए शोक करने अथवा इच्छा करने का कोई कारण नहीं बन सकता। श्रीभगवान् आप्तकाम हैं, इसलिए उनकी सेवा में लगा कृष्णभावनाभावित जीव भी आप्तकाम हो गया है। वह ठीक उस कल्लोलिनि (नदी) जैसा है, जिसका सारा जल-प्रवाह परिष्कृत हो गया हो। नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण के अनन्य चिन्तन में लीन रहने से शुद्धभक्त स्वभावतः निरन्तर प्रसन्न अवस्था में स्थिर रहता है। उसका रोम-रोम भगवत्सेवा से पूर्ण रहता है, इसलिए किसी भी प्राकृत लाभ-हानि में वह दुःख-सुख नहीं मानता। उसमें प्राकृत विषयसुख की लेशमात्र इच्छा शेष नहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि श्रीभगवान् का भिन्नांश होने के नाते जीवमात्र उनका नित्यदास है। उसे प्राकृत-जगत् में कोई ऊँचा-नीचा नहीं दिखता। ये सब उच्च-निम्न स्थितियाँ वस्तुतः नश्वर हैं और भक्त का नश्वर वस्तुओं के आने-जाने के कोई सम्बन्ध नहीं। उसके लिए पत्थर और स्वर्ण का समान मूल्य है। इसी का नाम ब्रह्मभूत अवस्था है, जो शुद्धभक्त को अतिशय सुगमता से प्राप्त हो जाती है। जीवन की उस अवस्था में परब्रह्म से एक होकर अपने जीव-स्वरूप को नष्ट करने का विचार नारकीय हो जाता है, स्वर्ग-प्राप्ति भयावह लगती है और इन्द्रियाँ खण्डित दाँत वाले सर्पों के समान निर्बल हो जाती हैं। जैसे खण्डित-दाँत वाले सर्प से कोई भय नहीं, वैसे ही इन्द्रियों के अपने-आप वश में हो जाने पर उनसे भय नहीं रहता। विषयी के लिए यह जगत् दुःखमय है; परन्तु भक्त के लिए तो सारा जगत् बिल्कुल वैकुण्ठ जैसा है। भक्त के लिए इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च प्राणी तक चींटी से अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस युग